प्रथम संस्करण : ३२००
१ मई १९८७ ई० (अक्षय तृतीया)

मूल्य : एक रुपया

शास्त्री,
श्री टोडरमल

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स
एम. आई. रोड,
जयपुर-३०२००१

पण्डित
ए-४, बापूनगर

सारसमयसार

लेखक

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पी-एच. डी.

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५ (राज०)

प्रकाशकीय

समयसार जिन-अध्यात्मरसिकों का प्राण है। समयसार में प्रतिपादित मूल विषयवस्तु का संक्षिप्त सार सरल व सुबोध भाषा में प्रस्तुत करने वाली यह लघु कृति अध्यात्मप्रेमी समाज में अवश्य ही समादृत होगी – ऐसा हम समझते हैं।

डॉ. भारिल्ल द्वारा लिखित समयसार की प्रस्तावना पढ़कर उनकी कृतियों का अंग्रेजी अनुवाद करनेवाले प्रो. मनोहरलालजी अजमेर इतने प्रमुदित हुए कि उन्होंने ५०१/- रुपये देते हुए अनुरोध किया कि इसमें समागत समयसार के सार को पृथक् रूप से पुस्तकाकार अवश्य प्रकाशित करें। उनकी प्रेरणा से हमारा ध्यान भी इस ओर गया और हमें भी इसका पुस्तकाकार प्रकाशन उपयोगी प्रतीत हुआ। प्रयोग के रूप में हम इसकी ३२०० प्रतियां प्रकाशित कर रहे हैं। यदि मुमुक्षु समाज ने इसका स्वागत किया तो आगे भी इसे प्रकाशित करेंगे।

यह कृति अब तक समयसार की प्रस्तावना में ३२०० एवं वीतराग-विज्ञान के संपादकीय के रूप में ६५०० प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत प्रकाशन ३२०० का है। इसप्रकार कुल मिलाकर १२ हजार ९ सौ की संख्या में जन-जन तक पहुँच रही है।

हमें विश्वास है कि इस कृति को पढ़कर लोगों को समयसार के गहरे अध्ययन की पावन प्रेरणा अवश्य मिलेगी।

अब तक हम डॉ० भारिल्ल द्वारा लिखित छोटी-बड़ी २८ कृतियाँ अनेक भाषाओं में १५ लाख की संख्या में प्रकाशित कर चुके हैं, जिनकी सूची अन्त में दी गई है। आशा है पाठकगण उनसे भी लाभ लेंगे।

– नेमीचंद पाटनी

महामंत्री, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,

२५ अप्रेल, १९८७ ई०

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

सारसमयसार

यदि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बरजिन-आचार्य परम्परा में शिरोमणी हैं तो शुद्धात्मा का प्रतिपादक उनका यह ग्रन्थाधिराज समयसार सम्पूर्ण जिन-वांङ्मय का शिरमौर है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे "इदमेकजगच्चक्षुरक्षयं[1] – यह जगत का अद्वितीय अक्षय चक्षु है" कहा है, तथा इसकी महिमा "न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति[2] – समयसार से महान इस जगत में कुछ भी नहीं है" कहकर गाई है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं इसकी अन्तिम गाथा में इसके अध्ययन का फल बताते हुए कहते हैं –

"जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥

जो आत्मा इस समयसार नामक शास्त्र को पढ़कर, इसमें प्रतिपादित आत्मवस्तु को अर्थ व तत्त्व से जानकर, उस आत्मवस्तु में स्थित होता है, अपने को स्थापित करता है, वह आत्मा उत्तम सुख अर्थात् अतीन्द्रिय अनन्त-आनन्द को प्राप्त करता है।"

आचार्य जयसेन के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ने संक्षेपरुचि वाले शिष्यों के लिए पंचास्तिकाय, मध्यमरुचि वाले शिष्यों के लिए प्रवचनसार और विस्ताररुचि वाले शिष्यों के लिए इस ग्रन्थाधिराज समयसार की रचना की है। इस बात का उल्लेख उक्त ग्रन्थों पर उनके द्वारा लिखी गई तात्पर्यवृत्ति नामक टीकाओं के आरंभ में किया गया है।

---

१. समयसार कलश २४५

२. समयसार कलश २४४

इस ग्रन्थाधिराज पर आद्योपान्त १९ वार सभा में व्याख्यान कर इस युग में इसे जन-जन की वस्तु वना देनेवाले आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहा करते थे कि "यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार इसमें है। यह जैनशासन का स्तंभ है, साधकों की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। इसकी हर गाथा छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव में से निकली हुई है।"

इस ग्रन्थाधिराज का मूल प्रतिपाद्य नवतत्त्वों के निरूपण के माध्यम से नवतत्त्वों में छुपी हुई परमशुद्धनिश्चयनय की विषयभूत वह आत्मज्योति है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

आचार्यदेव पूर्वरंग में ही कहते हैं कि मैं अपने सम्पूर्ण वैभव से उस एकत्व-विभक्त आत्मा का दिग्दर्शन करूँगा, जो न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है; मात्र अभेद-अखण्ड एक ज्ञायकभावरूप है, परमशुद्ध है। परमध्यान का ध्येय, एकमात्र श्रद्धेय वह भगवान आत्मा न तो कर्मों से वद्ध ही है और न कोई परपदार्थ उसे स्पर्श ही कर सकता है। वह ध्रुवतत्त्व पर से पूर्णतः असयुक्त, अपने में ही सम्पूर्णतः नियत, अपने से अनन्य एवं समस्त विशेषों से रहित है।

तात्पर्य यह है कि पर से भिन्न और अपने से अभिन्न इस भगवान आत्मा में प्रदेशभेद, गुणभेद एवं पर्यायभेद का भी अभाव है। भगवान आत्मा के अभेद-अखण्ड इस परमभावको ग्रहण करनेवाला नय ही शुद्धनय है और यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, शेष सभी व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। जो व्यक्ति इस शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन का ज्ञाता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा हो है, इसके ही आश्रय

से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षार्थियों के द्वारा एकमात्र यही आराध्य है, यही उपास्य है; इसकी आराधना-उपासना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

इस भगवान आत्मा के अतिरिक्त सभी देहादि पर पदार्थों, रागादि विकारी भावों एवं गुणभेदादि के विकल्पों में अपनापन ही मिथ्यात्व है, अज्ञान है। यद्यपि देहादि परपदार्थों एवं रागादि विकारी भावों को जिनागम में व्यवहार से आत्मा कहा गया है, आत्मा का कहा गया है; पर वह व्यवहार प्रयोजनविशेषपुरतः ही सत्यार्थ है।

जिसप्रकार अनार्य को समझाने के लिए अनार्यभाषा का उपयोग उपयोगी ही है, पर अनार्य हो जाना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता; उसीप्रकार परमार्थ की सिद्धि के लिए परमार्थ के प्रतिपादक व्यवहार का उपयोग उपयुक्त ही है, तथापि व्यवहार-विमुग्ध हो जाना ठीक नहीं है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार के विषयभूत देहादि एवं रागादि को वास्तव में आत्मा जान लेना – मान लेना, अपना जान लेना – मान लेना कदापि उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

भगवान आत्मा तो देहादि में पाये जानेवाले रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्शी स्वभाववाला चेतन तत्त्व है, शब्दादि से पार अवक्तव्य तत्त्व है, इसे बाह्य चिन्हों से पहिचानना संभव नहीं है। भले ही उसे व्यवहार से वर्णादिमय अर्थात् गोरा-काला कहा जाता हो, पर कहने मात्र से वह वर्णादिमय नहीं हो जाता। कहा भी है –

"घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः॥"[1]

---

१. समयसार कलश ४०

जिसप्रकार 'घी का घड़ा' – इसप्रकार का वचनव्यवहार होने पर भी घड़ा घीमय नहीं हो जाता, उसीप्रकार 'वर्णादिवाला जीव' ऐसा वचनव्यवहार होने मात्र से जीव वर्णादि वाला नहीं हो जाता ।"

यह सार है समयसार के जीवाजीवाधिकार का । सम्पूर्ण विश्व को स्व और पर इन दो भागों में विभक्त कर, पर से भिन्न और अपने से अभिन्न निज भगवान आत्मा की पहिचान कराना इस अधिकार का मूल प्रयोजन है ।

जीवाजीवाधिकार के अध्ययन से स्व और पर की भिन्नता अत्यन्त स्पष्ट हो जाने पर भी जबतक यह आत्मा स्वयं को पर का कर्त्ता-भोक्ता मानता रहता है, तबतक वास्तविक भेदविज्ञान उदित नहीं होता । यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जीवाजीवाधिकार के तुरन्त बाद कर्त्ता-कर्म अधिकार लिखना आवश्यक समझा । पर के कर्तृत्व के बोझ से दबा आत्मा न तो स्वतंत्र ही हो सकता है और न उसमें स्वावलम्बन का भाव ही जागृत हो सकता है । यदि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के कार्यों का कर्त्ता-भोक्ता स्वीकार किया जाता है तो फिर प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है । इस बात को कर्त्ता-कर्म अधिकार में बड़ी ही स्पष्टता से समझाया गया है ।

आचार्य कुन्दकुन्द तो साफ-साफ कहते हैं –

"कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।[1]

जो आत्मा क्रोधादि भावकर्मों, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों का कर्त्ता नहीं होता, उन्हें मात्र जानता ही है, वही वास्तविक ज्ञानी है ।"

---

१. समयसार गाथा ७५

यदि हम गहराई से विचार करें तो यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्यों को करता है, उनके स्वतंत्र परिणमन में हस्तक्षेप करता है, उन्हें भोगता है तो फिर प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का क्या अर्थ शेष रह जाता है ? इस कर्त्ता-कर्म अधिकार की उक्त गाथा में तो यहाँ तक कहा गया है कि पर के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों का कर्त्ता भी ज्ञानी नहीं होता, वह तो उन्हें भी मात्र जानता ही है ।

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष के भाव आस्रवभाव हैं । इस कर्त्ता-कर्म अधिकार का आरंभ ही आत्मा और आस्रवों के बीच भेदविज्ञान से होता है । जब आत्मा भिन्न है और आस्रव भिन्न हैं तो फिर आस्रवभावों का कर्त्ता-भोक्ता भगवान कैसे हो सकता है ? जिनागम में जहाँ भी आत्मा को पर का या विकार का कर्त्ता-भोक्ता कहा गया है, उसे प्रयोजन विशेष से किया गया व्यवहारनय का कथन समझना चाहिए ।

आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों में वस्तुस्थिति तो यह है –

"आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्त्तात्मा 'मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।।'[1]

आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त और क्या करे ? आत्मा परभावों का कर्त्ता है – ऐसा मानना, कहना व्यवहार-विमुग्धों का मोह ही है, अज्ञान ही है ।"

कर्त्ता-कर्म की स्थिति स्पष्ट करते हुए समयसार नाटक के कर्त्ता-कर्म अधिकार में कविवर बनारसीदासजी लिखते हैं –

"ग्यानभाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान ।
दर्वकर्म पुद्गल करै, यह निहचै परवान ।।१७।।

---

१. समयसार कलश ६२

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ज्ञानभावों का कर्त्ता ज्ञानी आत्मा है, मोह-राग-द्वेष आदि अज्ञानभावों का कर्त्ता अज्ञानी आत्मा है और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों, शरीरादि नोकर्मों का कर्त्ता पुद्गल-द्रव्य ही है।"

यद्यपि युद्ध योद्धाओं द्वारा ही किया जाता है, तथापि व्यवहार में यही कहा जाता है कि युद्ध राजा ने किया है। जीव को ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता कहना – इसीप्रकार का व्यवहार है। जिसप्रकार प्रजा के दोष-गुणों का उत्पादक राजा को कहा जाता है, उसीप्रकार पुद्गल द्रव्य के परिणमन का कर्त्ता जीव को कहा जाता है। इसप्रकार अनेक उदाहरणों द्वारा परकर्तृत्व के व्यवहार की स्थिति स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं –

"उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पोग्गलदव्वं व्यवहारणयस्स वत्तव्वं ॥[1]

आत्मा पुद्गल द्रव्य को करता है, उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है – यह सब व्यवहारनय का कथन है।"

वास्तव में देखा जाय तो आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई भी संबंध नहीं है।

अज्ञानी आत्मा देहादि परपदार्थों एवं रागादि विकारों को निजरूप ही मानता है या फिर उन्हें अपना मानकर उनसे स्व-स्वामी सम्बन्ध स्थापित करता है, उनका स्वामी बनता है। यदि कदाचित् उन्हें अपना न भी माने तो भी उनका कर्त्ता-भोक्ता तो बनता ही है।

इसप्रकार अज्ञानी के पर से एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व पाये जाते हैं। उक्त चारों ही स्थितियों को अध्यात्म की भाषा में पर

---

१. समयसार गाथा १०७

से अभेद ही माना जाता है। अतः पर से एकत्व-ममत्व एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व तोड़ना ही भेदविज्ञान है। जीवाजीवाधिकार में पर से एकत्व-ममत्व और कर्त्ता-कर्म अधिकार में पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व का निषेध कर भेदविज्ञान कराया गया है।

इसप्रकार उक्त दोनों ही अधिकार भेदविज्ञान के लिए ही समर्पित हैं।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं रागादिभावकर्मों को पुण्य-पाप के रूप में भी विभाजित किया जाता है। इसप्रकार शुभभाव एवं शुभकर्मों को पुण्य एवं अशुभभाव एवं अशुभकर्मों को पाप कहा जाता है। यद्यपि शुभाशुभरूप पुण्य और पाप दोनों ही कर्म हैं, कर्मबंध के कारण हैं, आत्मा को बंधन में डालनेवाले हैं; तथापि अज्ञानीजन पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा मानते हैं। अज्ञानजन्य इस मान्यता का निषेध करने के लिए ही आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य-पाप अधिकार का प्रणयन किया है।

वे अधिकार के आरंभ में ही लिखते हैं –

"कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥
सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥
तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥"[1]

अज्ञानीजनों को संबोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि तुम ऐसा जानते हो कि शुभकर्म सुशील है और अशुभकर्म कुशील है, पर जो शुभाशुभ कर्म संसार में प्रवेश कराते हैं, उनमें से कोई भी कर्म सुशील कैसे हो सकता है ?

1. समयसार गाथा १४५-४७

जिसप्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है, उसीप्रकार सोने की बेड़ी भी बाँधती ही है। इसीप्रकार जैसे अशुभ (पाप) कर्म जीव को बाँधता है, वैसे ही शुभकर्म भी जीव को बाँधता ही है। बंधन में डालने की अपेक्षा पुण्य-पाप दोनों ही कर्म समान ही हैं।

सचेत करते हुए आचार्य कहते हैं कि इसलिए पुण्य-पाप इन दोनों कुशीलों के साथ राग मत करो, संसर्ग भी मत करो, क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।"

उक्त संदर्भ में समयसार नाटक के पुण्य-पाप अधिकार में समागत कतिपय महत्त्वपूर्ण छन्द इसप्रकार हैं –

पापबंध पुन्नबंध दुहूं में मुकति नांहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गल को पेखिए।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जगजाल में विसेखिए॥
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसो द्वैतभाव ग्यान दृष्टि में न लेखिए।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंध रूप,
दुहूं को विनास मोख मारग में देखिए॥ ६॥

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल –
वस्तु के विचारत दुविध कर्मरोग है॥
ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरम में करम त्याग-जोग है।
भौ–जल तरैया राग-द्वेष को हरैया महा –
मोख को करैया एक सुद्ध उपयोग है॥ ७॥

करम सुभासुभ दोइ, पुद्गलपिंड विभाव मल।
इनसौं मुकति न होइ, नहिं केवल पद पाइए ।।११।।

शुभाशुभभावरूप पुण्य-पापभाव भावास्रव हैं एवं उनके निमित्त से पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओं का पुण्य-पाप प्रकृतियोंरूप परिणमित होना द्रव्यास्रव है। भगवान आत्मा (जीवतत्त्व) इन दोनों ही आस्रवों से भिन्न है। अज्ञानी जीव पुण्य और पाप में अच्छे-बुरे का भेद कर पुण्य को अपनाना चाहता है, उपादेय मानता है, मोक्षमार्ग जानता है; जबकि आस्रवतत्त्व होने से पाप के समान पुण्यतत्त्व भी हेय है, उपादेय नहीं; संसारमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं। यही भेदज्ञान कराना पुण्य-पाप अधिकार का मूल प्रयोजन है।

ज्ञानावरणादि कर्मों के बंध के कारण होने से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आस्रव हैं। ये मिथ्यात्वादि आस्रव भावास्रव और द्रव्यास्रव के भेद से दो प्रकार के हैं। मिथ्यात्व, अविरति और कषाय तो मोह-राग-द्वेषरूप ही हैं, योग मन-वचन-काय की चंचलता एवं उसके निमित्त से आत्मप्रदेशों में होने वाले कंपन को कहते हैं। आत्मप्रदेशों में होनेवाला कंपन भावयोग है और मन-वचन-काय की चंचलता द्रव्ययोग है। इसीप्रकार परपदार्थों में एकत्व-ममत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि भावमिथ्यात्व है और उसके निमित्त से कार्माणवर्गणा का मिथ्यात्व कर्मरूप परिणमित होना द्रव्यमिथ्यात्व है। इसीप्रकार अविरति और कषाय को भी समझ लेना चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण आस्रवभावों से भगवान आत्मा (जीवतत्त्व) अत्यन्त भिन्न है। आस्रवभावों से भिन्न निज भगवान आत्मा को ही निज जानने-माननेवाले ज्ञानीजनों को मिथ्यात्वसंबंधी आस्रव नहीं होते – इसकारण उन्हें निरास्रव कहा जाता है। कहा भी है –

"जो दरवास्रव रूप न होई। जहं भावास्रव भाव न कोई।
जाकी दशा ग्यानमय लहिए। सो ग्यातार निरास्रव कहिए ।।[1]

१. समयसार नाटक, आस्रवद्वार, छन्द ४

इस अधिकार में सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को निरास्रव सिद्ध किया गया है। एवं इस संदर्भ में उठनेवाली शंका-आशंकाओं का निराकरण भी किया गया है। समयसार नाटक के तत्संबंधी कतिपय छन्द इसप्रकार हैं –

प्रश्न – ज्यौं जग मैं विचरै मतिमंद, सुछन्द सदा वरतै वुध तैसो।
चंचल चित्त असंजित वैन, सरीर-सनेह जथावत जैसो॥
भोग संजोग परिग्रह संग्रह, मोह विलास करै जहं ऐसो।
पूछत सिष्य आचारज सौं यह, सम्यकवंत निरास्रव कैसो॥[1]

उत्तर – पूरव अवस्था जे करम-बंध कीने अब,
तेई उदै आइ नाना भांति रस देत हैं।
केई सुभ साता केई असुभ असाता रूप,
दुहूं सौं न राग न विरोध समचेत हैं॥
जथाजोग क्रिया करैं फल की न इच्छा धरैं,
जीवन-मुकति को विरद गहि लेत हैं।
यातै ग्यानवंत कौं न आस्रव कहत कोऊ,
मुद्धता सौं न्यारे भये सुद्धता समेत हैं॥[2]

वस्तुतः वात यह है कि शुद्धनय के विषयभूत अर्थ (निज भगवान आत्मा) का आश्रय करनेवाले ज्ञानीजनों को अनंत संसार के कारण-भूत आस्रव-बंध नहीं होते। रागांश के शेष रहने से जो थोड़े वहुत आस्रव-बंध होते हैं, उनकी उपेक्षा कर यहाँ ज्ञानी को निरास्रव और निर्वंध कहा गया है। कहा तो यहाँ तक गया है कि–

"यह निचोर या ग्रन्थ कौ, यहै परमरस पोख।
तजै सुद्धनय वंध है, गहै सुद्धनय मोख॥[3]"

---

१. समयसार नाटक, आस्रवद्वार छन्द ६

२. समयसार नाटक, आस्रवद्वार छन्द ७

३. समयसार नाटक, आस्रवद्वार छन्द १३

आस्रव का निरोध संवर है। अतः मिथ्यात्वादि आस्रवों के निरोध होने पर संवर की उत्पत्ति होती है। संवर से संसार का अभाव और मोक्षमार्ग का आरंभ होता है, अतः संवर साक्षात् धर्मस्वरूप ही है। कहा भी है –

"तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छित्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य।।
हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो।।
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि।।[1]

सर्वदर्शी भगवान ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप अध्यावसानों को आस्रव का कारण कहा है। मिथ्यात्वादि कारणों के अभाव में ज्ञानियों के नियम से आस्रवों का निरोध होता है। और आस्रवभाव के विना कर्म का निरोध होता है। इसीप्रकार कर्म के अभाव में नोकर्म का एवं नोकर्म के अभाव में संसार का ही निरोध हो जाता है।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि संवर अनंत दुखरूप संसार का अभाव कर अनंत सुखस्वरूप मोक्ष का कारण है।

संवररूप धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण भेदविज्ञान है। यही कारण है कि इस ग्रंथराज में आरम्भ से ही पर और विकारों से भेदविज्ञान कराते आ रहे हैं।

भेदविज्ञान की भावना निरन्तर भाते रहने की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं –

---

१. समयसार गाथा १९०-९२

"संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ।।
भावयेद्भेदविज्ञानमिदंमच्छिन्न धारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते ।।
भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो वद्धा वद्धा ये किल केचन ।।[1]

यह संवर शुद्धात्मतत्त्व की साक्षात् उपलब्धि (आत्मानुभव) से होता है और शुद्धात्मतत्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है। अतः यह भेदविज्ञान अत्यन्त भाने योग्य है।

यह भेदविज्ञान तबतक अविच्छिन्न धारा से भाना चाहिए, जबतक कि ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान में ही स्थिर न हो जावे, क्योंकि आजतक जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जितने भी जीव कर्मबन्धन में बंधे हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही बंधे हुए हैं।"

भेदविज्ञान की महिमा और उसका फल बताते हुए कविवर बनारसीदासजी लिखते हैं –

"प्रगटि भेदविग्यान, आपगुन परगुन जानै।
पर परिणति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै ।।
करि अनुभौ अभ्यास सहज संवर परगासै।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै ।।
छय करि विभाव समभाव भजि, निरविकलप निजपद गहै।
निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर, परम अतीन्द्रिय सुख लहै ।।[2]

---

१. समयसार कलश १२९-३१

२. समयसार नाटक, संवरद्वार, छन्द ११

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा के आस्रव के अभावरूप संवरपूर्वक निज भगवान आत्मा का उग्र आश्रय होता है, उसके बल से आत्मा में उत्पन्न शुद्धि की वृद्धिपूर्वक जो कर्म खिरते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं। शुद्धि की वृद्धि भावनिर्जरा है और कर्मों का खिरना द्रव्य-निर्जरा। कविवर बनारसीदास ने निर्जरा की वंदना करते हुए उसका स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया है –

"जो संवरपद पाइ अनंदै। सो पूरवकृत कर्म निकंदै।
जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै। सो निरजरा बनारसि वंदै॥[1]"

निर्जरा अधिकार के आरम्भ ही आचार्य कहते हैं –

"उवभोगमिंदयेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥
जह विसमुवभंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी॥
जह मज्जं पिवमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव॥[2]

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा जो अचेतन और चेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, वह सर्व निर्जरा का निमित्त होता है।

जिसप्रकार वैद्य पुरुष विष को भोगता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गलकर्म के उदय को भोगता हुआ भी बंध को प्राप्त नहीं होता।

जिसप्रकार मदिरा को अरतिभाव से पीनेवाला पुरुष मतवाला नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञानी भी द्रव्यों के उपभोग के प्रति अरत रहने से बंध को प्राप्त नहीं होता।"

---

१. समयसार नाटक, निर्जरा द्वार, छन्द २
२. समयसार, गाथा १९३-९५-९६

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा को क्रिया करते हुए एवं उनका फल भोगते हुए भी यदि कर्मबंध नहीं होता है और निर्जरा होती है तो उसका कारण उसके अंदर विद्यमान ज्ञान और वैराग्य का बल ही है। इस बात को निर्जरा अधिकार में बहुत ही विस्तार से सयुक्ति स्पष्ट किया गया है। उक्त संदर्भ में कविवर बनारसीदासजी के कतिपय छन्द द्रष्टव्य हैं –

महिमा सम्यग्ज्ञान की, अरु विराग बल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजतै, करम बंध नहि होइ ॥३॥
पूर्व उदै सनबंध, विषै भोगवै समकिती।
करै न नूतन बंध, महिमा ग्यान विराग की ॥६॥
ग्यानी ग्यान मगन रहै, रागादिक मल खोइ।
चित उदास करनी करै, करमबंध नहि होइ ॥३६॥
मूढ़ करम को करता होवै। फल अभिलाष धरै फल जोवै।
ग्यानी क्रिया करै फलसूनी। लगै न लेप निर्जरा दूनी ॥४३॥[1]

परपदार्थ एवं रागभाव में रंचमात्र भी एकत्वबुद्धि नहीं रखने वाले एवं अपने आत्मा को मात्र ज्ञायकस्वभावी जानने वाले आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को संबोधित करते हुए आचार्यदेव कहते हैं –

"एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥[2]

हे आत्मन्! इस ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा में ही नित्य रत रह, इसमें ही नित्य सन्तुष्ट रह, इससे ही तृप्त हो – ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।"

---

१. समयसार नाटक, निर्जरा अधिकार

२. समयसार गाथा २०६

इसप्रकार निर्जराधिकार समाप्त कर अब बंधाधिकार में कहते हैं कि जिसप्रकार धूल भरे स्थान में तैल लगाकर विभिन्न शस्त्रों से व्यायाम करनेवाले पुरुष को सचित्त-अचित्त केले आदि वृक्षों के छिन्न-भिन्न करने पर जो धूल चिपटती है, उसका कारण तैल की चिकनाहट ही है, धूल और शारीरिक चेष्टायें नहीं। उसीप्रकार हिंसादि पापों में प्रवर्तित मिथ्यादृष्टी जीव को होनेवाले पापबंध का कारण रागादिभाव ही हैं, अन्य चेष्टायें या कर्मरज आदि नहीं। बंधाधिकार के आरंभ में अभिव्यक्त इस भाव को बनारसीदासजी ने इसप्रकार व्यक्त किया है—

"कर्मजाल-वर्गना सौं जग मैं न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय जोग सौं।
चेतन अचेतन की हिंसा सौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच-विषै-विष रोग सौं॥
कर्म सौं अबंध सिद्ध जोग सौं अबंध जिन,
हिंसा सौं अबंध साधु ग्याता विषै-भोग सौं।
इत्यादिक वस्तु के मिलाप सौं न बंधै जीव,
बंधै एक रागादि असुद्ध-उपयोग सौं॥[1]"

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि बंध का मूल कारण रागादिभावरूप अशुद्धोपयोग ही है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि अकेला अशुद्धोपयोग ही बंध का कारण क्यों है? परजीवों का घात करना, उन्हें दुख देना, उनकी सम्पत्ति आदि का अपहरण करना, झूठ बोलना आदि को बंध का कारण क्यों नहीं कहा गया है?

इसका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि प्रत्येक जीव अपने सुख-दुःख और जीवन-मरण आदि का उत्तरदायी स्वयं ही है, कोई

---

१. समयसार नाटक, बंधद्वार, छन्द ४

अन्य जीव अन्य जीव को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता और न मार-जिला ही सकता है। जब कोई व्यक्ति किसी का कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर किसी अन्य के जीवन-मरण और सुख-दुख के कारण किसी अन्य को बंध भी क्यों हो ?

सभी जीव अपने आयुकर्म के उदय से जीते हैं और आयुकर्म के समाप्त होने पर मरते हैं। इसीप्रकार सभी जीव अपने कर्मोदय के अनुसार सुखी-दुःखी होते हैं। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य के आयु या अन्य कर्म को ले दे नहीं सकता तो फिर उसके जीवन-मरण और सुख-दुःख का जिम्मेवार भी कैसे हो सकता है ?

हाँ यह बात अवश्य है कि दूसरों को मारने-बचाने एवं सुखी-दुःखी करने के भाव (अध्यवसान) अवश्य कर सकता है और उन भावों के कारण कर्मबंधन को भी प्राप्त हो सकता है। इसीप्रकार झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन करने एवं परिग्रह जोड़ने के संबंध में भी समझना चाहिए।

उक्त संदर्भ में विस्तृत चर्चा करने के उपरान्त आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं –

"अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्य ।।[1]
वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।।[2]

बंध के सन्दर्भ में निश्चयनय की दो टूक बात यह है कि जीवों को चाहे मारो, चाहे न मारो कर्मबंध अध्यवसान से ही होता है। यद्यपि यह बात भी सत्य है कि अध्यवसानभाव वस्तु के अवलम्बनपूर्वक ही होते हैं, तथापि बंध वस्तु से नहीं, अध्यवसान भावों से ही होता है।"

---

१. समयसार गाथा २६२

२. समयसार गाथा २६५

यद्यपि यह बात सत्य है कि कर्मजाल, योग, हिंसा और भोग क्रिया के कारण बंध नहीं होता, तथापि सम्यग्दृष्टी ज्ञानी धर्मात्मा के अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती और न होनी ही चाहिए, क्योंकि पुरुषार्थहीनता और भोगों में लीनता मिथ्यात्व की भूमिका में ही होती है। कहा भी है –

"कर्मजाल जोग हिंसा भोग सौं न बंधै पै,
तथापि ग्याता उद्दिमी बखान्यौ जिनबैन मैं।
ग्यानदिष्टि देत विषै-भोगनि सौं हेत दोऊ
क्रिया एक खेत यौं तो बनै नांहि जैन मैं॥
उदैबल उद्दिम गहै पै फल कौं न चहै,
निरदै दसा न होइ हिरदै के नैन मैं।
आलस निरुद्दिम की भूमिका मिथ्यात मांहि,
जहाँ न संभारै जीव मोह नींद सैन मैं॥[1]"

संक्षेप में बंधाधिकार की यही विषयवस्तु है। अब मोक्षाधिकार में कहते हैं कि जिसप्रकार बंधनों में जकड़ा हुआ पुरुष बंधन का विचार करते रहने से बंधन से मुक्त नहीं होता, अपितु बंधनों को छेदकर बंधनों से मुक्त होता है; उसीप्रकार कर्मबन्धन का विचार करते रहने मात्र से कोई आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त नहीं होता, अपितु वह कर्मबन्धन को छेदकर मुक्ति प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा बंध और आत्मा का स्वभाव जानकर बंध से विरक्त होते हैं, वे ही कर्मबन्धनों से मुक्त होते हैं।

बंध और आत्मा के बीच भेद करने का काम प्रज्ञारूपी छैनी से होता है। कहा भी गया है –

---

१. समयसार नाटक, बंधद्वार, छन्द ६

"जैसे छैनी लोह की, करै एक सौं दोइ।
जड़ चेतन की भिन्नता, त्यौं सुबुद्धि सौं होइ ॥[1]"

आत्मा और वंध के वीच प्रज्ञारूपी छैनी को डालकर जो आत्मा उन्हें भिन्न-भिन्न पहिचान लेते हैं, वे वंध को छेदकर शुद्ध आत्मा को ग्रहण कर लेते हैं। जिस प्रज्ञा से वंध से भिन्न निज आत्मा को जानते हैं, उसी प्रज्ञा से वंध से भिन्न निज को ग्रहण भी करते हैं। ज्ञानी आत्मा भलीभांति जानते हैं कि मैं तो ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्मा ही हूँ, शेष सभी भाव मुझसे भिन्न भाव हैं।

जिसप्रकार लोक में अपराधी व्यक्ति निरन्तर सशंक रहता है और निरपराधी व्यक्ति को पूर्ण निशंकता रहती है; उसीप्रकार आत्मा की आराधना करनेवाले निरपराधी आत्मा को कर्मवन्धन की शंका नहीं होती। यह सार है मोक्षाधिकार का।

अव सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में कहते हैं कि जिसप्रकार आंख परपदार्थों को मात्र देखती ही है, उन्हें करती या भोगती नहीं; उसी प्रकार ज्ञान भी पुण्य-पापरूप अनेक कर्मों को, उनके फल को, उनके वंध को, निर्जरा व मोक्ष को जानता ही है, करता नहीं।

"नास्ति सर्वोऽपि सम्वन्धः परद्रव्यात्मतत्वयोः[2]" – आचार्य अमृतचन्द्र की इस उक्ति के अनुसार जव भगवान आत्मा का परद्रव्य के साथ कोई भी सम्वन्ध नहीं है तो फिर वह परपदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता कैसे हो सकता है ?

एक द्रव्य को दूसरे पदार्थों का कर्त्ता-भोक्ता कहना मात्र व्यवहार का ही कथन है, निश्चय से विचार करें तो दो द्रव्यों के वीच कर्त्ता-कर्मभाव संभव ही नहीं है। कहा भी है –

---

[1] समयसार नाटक, मोक्षद्वार, छन्द ४

[2] समयसार कलश २००

"व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्त्तृकर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते कर्त्तृकर्म च सदैकमिष्यते ।।[1]

केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही कर्त्ता और कर्म भिन्न जाने जाते हैं, यदि निश्चय से वस्तु का विचार किया जाये तो कर्त्ता और कर्म सदा एक ही माना जाता है ।"

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दादि रूप परिणमित पुद्गल आत्मा से यह नहीं कहते कि 'तुम हमें जानो' और आत्मा भी अपने स्थान को छोड़कर उन्हें जानने को कहीं नहीं जाता, दोनों अपने-अपने स्वभावानुसार स्वतन्त्रता से परिणमित होते हैं । इसप्रकार स्वभाव से आत्मा परद्रव्यों के प्रति अत्यन्त उदासीन होने पर भी अज्ञान अवस्था में उन्हें अच्छे-बुरे जानकर राग-द्वेष करता है ।

शास्त्र ज्ञान नहीं है, क्योंकि शास्त्र कुछ जानते नहीं हैं, इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं । इसी प्रकार शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल, आकाश एवं अध्यवसान भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि ये सब कुछ जानते नहीं हैं, अतः ज्ञान अन्य है और ये सब अन्य हैं । इसप्रकार सभी परपदार्थों एवं अध्यवसानभावों से भेदविज्ञान कराया गया है ।

अन्त में आचार्यदेव कहते हैं कि बहुत से लोग लिंग (भेष) को ही मोक्षमार्ग मानते हैं, किन्तु निश्चय से मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है – ऐसा जिनदेव कहते हैं । इसलिए हे भव्यजनो ! अपने आत्मा को आत्मा की आराधनारूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय मोक्षमार्ग में लगाओ, अपने चित्त को अन्यत्र मत भटकाओ ।

---

[1] समयसार कलश २१
[2] समयसार गाथा ४१२

अत्यन्त करुणा भरे शब्दों में आचार्यदेव कहते हैं –

"मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ।।

हे आत्मन् ! तू स्वयं को निजात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में स्थापित कर, निजात्मा का ही ध्यान धर, निजात्मा में ही चेत, निजात्मा का ही अनुभव कर एवं निजात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में ही नित्य विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार मत कर, उपयोग को अन्यत्र मत भटका । समयसार शास्त्र का यही सार है, यही शास्त्र तात्पर्य है ।

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार ४१५ गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार समाप्त हो जाता है । इसके उपरान्त आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट के रूप में अनेकांत-स्याद्वाद, उपाय-उपेयभाव एवं ज्ञानमात्र भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों का बड़ा ही मार्मिक निरूपण करते हैं, जो मूलतः पठनीय है ।

परिशिष्ट के आरंभ में ही आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं –

"अत्र स्याद्वादशुद्धयर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ।।

यहाँ स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था और उपाय-उपेयभाव का जरा फिर से विचार करते हैं ।"

इसप्रकार इस ग्रन्थाधिराज समयसार में नवतत्त्वों के माध्यम से मूलप्रयोजनभूत उस शुद्धात्मवस्तु का प्ररूपण है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है । अतः प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए ।

द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव का बहाना लेकर परमाध्यात्म के प्रतिपादक इस शास्त्र के अध्ययन का निषेध करने वाले मनीषियों को पण्डित टोडरमलजी के इस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए –

"यदि झूठे दोष की कल्पना करके अध्यात्मशास्त्रों को पढ़ने-सुनने का निषेध करें तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ ही है, उसका निषेध करने से तो मोक्षमार्ग का निषेध होता है। जैसे – मेघवर्षा होने पर बहुत से जीवों का कल्याण होता है और किसी को उल्टा नुकसान हो, तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना; उसीप्रकार सभा में अध्यात्म-उपदेश होने पर बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु कोई उल्टा पाप में प्रवर्त्ते, तो उसकी मुख्यता करके अध्यात्मशास्त्रों का निषेध नहीं करना।

तथा अध्यात्मग्रन्थों से कोई स्वच्छन्द हो; सो वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टी था, अब भी मिथ्यादृष्टी ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर कुगति होगी। परन्तु अध्यात्म-उपदेश न होनेपर बहुत जीवों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इसमें बहुत जीवों का बुरा होता है, इसलिये अध्यात्म-उपदेश का निषेध नहीं करना।[१]"

भव और भव के भाव का अभाव करने में सम्पूर्णतः समर्थ इस ग्रन्थाधिराज का प्रकाशन, वितरण, पठन-पाठन निरन्तर होता रहे और आप सबके साथ मैं भी इसके मूल प्रतिपाद्य समयसारभूत निजात्मा में ही एकत्व स्थापित कर तल्लीन हो जाऊँ अथवा मेरा यह नश्वर जीवन भी इसी के अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा रहस्योद्घाटन में ही अविराम लगा रहे – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २९२

डॉ० भारिल्ल की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

१.	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व	११.००
२.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी]	६.००
३.	धर्म के दशलक्षण [हि., गु., म., क., तमिल, अंग्रेजी]	६.००
४.	क्रमबद्धपर्याय [हि., गु., म., क., त., अं.]	५.००
५.	सत्य की खोज [हि., गु., म., त., क.]	६.००
६.	जिनवरस्य नयचक्रम्	६.००
७.	बारह भावना : एक अनुशीलन	५.००
८.	बारह भावना [पद्य]	१.००
९.	गागर में सागर	४.००
१०.	आप कुछ भी कहो [हिन्दी, कन्नड़, मराठी, गुजराती]	४.००
११.	मैं कौन हूँ ? [हि., गु., म., क., त., अंग्रेजी]	१.२५
१२.	युगपुरुष श्री कानजी स्वामी [हि., गु , म., क., त.]	२.००
१३.	तीर्थंकर भगवान महावीर [हि., गु., म., क., त., अ., ते., अं.]	०.५०
१४.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	४.००
१५.	अर्चना (पूजन संग्रह)	०.५०
१६.	गोम्मटेश्वर बाहुबली	०.४०
१७.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर [हि., गु.]	०.२५
१८.	चैतन्य चमत्कार	१.५०
१९.	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में [हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी]	१.२५
२०.	बालबोध पाठमाला भाग २ [हि., गु., म., क., त., बं., अं.]	१.००
२१.	बालबोध पाठमाला भाग ३ [हि., गु., म., क., त., बं., अं.]	१.००
२२.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हि., गु., म., क., अं.]	१.००
२३.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हि., गु., म., क., अं.]	१.२५
२४.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हि., गु., म., क., अं.]	१.२५
२५.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ [हि., गु., म., क., अंग्रेजी]	१.२५
२६.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी]	१.४०
२७.	विदेशों में जैनधर्म : उभरते पदचिन्ह	२.००
२८.	सार-समयसार	१.००

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ

मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण,
पर की मुझ में कुछ गन्ध नहीं।
मैं अरस, अरूपी, अस्पर्शी,
पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ॥१॥

मैं रंग-राग से भिन्न, भेद से
भी मैं भिन्न निराला हूँ।
मैं हूँ अखण्ड, चैतन्यपिण्ड,
निज रस में रमने वाला हूँ ॥२॥

मैं ही मेरा कर्त्ता-धर्त्ता,
मुझ में पर का कुछ काम नहीं।
मैं मुझ में रहने वाला हूँ,
पर में मेरा विश्राम नहीं ॥३॥

मैं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध, एक,
पर-परिणति से अप्रभावी हूँ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व,
मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ॥४॥

—डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल